धर्मप्राण—महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी

इलाहाबाद में चौक के निकट एक गली में एक बीमार कुत्ता पड़ा था। उसके चोट लगने से घाव हो गया था और उसमें कीड़े पड़ कर उसे काटने लगे थे। इसकी पीड़ा से वह छटपटाता हुआ बुरी तरह चिल्ला रहा था। उसके करुण शब्द को सुन कर बहुत से राहगीर ठहर जाते थे, पर सिवाय तमाशा देखने के कोई और कुछ न करता था। बहुत हुआ तो कोई मौखिक सहानुभूति के दो-चार उद्‌गार प्रकट कर देता था। उसी समय एक दस-बारह वर्ष की आयु का बालक स्कूल से घर जाता हुआ वहाँ आया और कुत्ते की पीड़ा को देख कर दयार्द्र हो उठा। वह तुरंत थोड़ी दूर पर रहने वाले एक डॉक्टर के यहाँ पहुँचा और कुत्ते की पीड़ा का सब समाचार सुनाया। डॉक्टर भी सहृदय था, उसने बालक की सद्‌भावना देख कर बिना मूल्य कुछ दवा दे दी कि इसे घाव पर लगा दो। बालक कुत्ते के पास आया और उसके घाव पर दवा लगाने लगा। आरंभ में तेज दवा के कारण कुत्ते को अधिक पीड़ा हुई, तो वह गुर्राने और दाँत दिखाने लगा। कई दर्शकों ने कहा—"अरे बच्चे, हट जाओ, वह तुमको काट लेगा ! क्या पता यह पागल भी हो।" पर वह बालक इस प्राणि-दया के कार्य से विरत नहीं हुआ और कुछ परिश्रम करके उसने दवा लगा ही दी।

इस बालक का नाम था—मदनमोहन, जो आगे चल कर भारतवर्ष के एक महान् नेता 'महामना मालवीय जी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस छोटी अवस्था में भी उनके हृदय में दीन-दुःखी और पीड़ित जनों के प्रति इतनी करुण भावना थी कि वे स्वयं के हानि-लाभ अथवा कष्ट सहन की परवाह न करके उनकी सहायता के लिए तैयार हो जाते थे। जैसे-जैसे वे बड़े होते गये, उनकी यह सद्‌वृत्ति विकसित होती गई और वे समस्त देश को ही आत्मीय की

भाँति-प्रेम करने लगे तथा उसके सभी निवासियों के अभावों तथा कष्टों को अनुभव करके उनकी सेवा में दत्तचित्त हो गए। उनमें इतनी प्रतिभा, इतनी योग्यता तथा साथ ही परिश्रमशीलता थी कि यदि वे अन्य लोगों की तरह खाने-कमाने में लगे रहते तो निश्चय ही बहुत बड़ी संपदा के स्वामी हो जाते और राजाओं की तरह महलों में रहकर स्वर्गीय सुखों का उपभोग कर सकते थे। पर उन्होंने उस मार्ग को छोड़कर सार्वजनिक सेवा का ही मार्ग अपनाया और इसलिए आजन्म साधारण स्थिति में रहकर स्वयं अनेक प्रकार के अभाव सहन करते रहे। देश और समाज के लिए उनका यह त्याग और आत्म-बलिदान इतना महान् था कि जनता ने उनको स्वयं 'महामना' की उपाधि दे डाली और स्वर्गवास हो जाने के पश्चात् आज भी वे समस्त राष्ट्र के श्रद्धाभाजन तथा पूजनीय बने हुए हैं।

शिक्षा-प्रचार की लगन—

मालवीय जी का बाल्यकाल और स्कूली जीवन उल्लास और खेल-कूद में गुजरा। ये स्वभाव से ही तेजस्वी और किसी की जोर-जबर्दस्ती सहन न करने वाले थे। पर इनके घर में गरीबी के कारण खर्च की सदा तंगी ही बनी रहती थी। पिता पं० ब्रजनाथ जी कथा बाँचने का कार्य करते थे और उससे जो आय हो जाती थी उसी से एक बड़े परिवार का भरण-पोषण करना होता था। उस समय स्कूल की फीस बहुत थोड़ी थी, पर उसको भी समय पर दे सकने की गुंजायश नहीं थी। इसलिए इनकी माता समय-समय पर अपने कड़ों को गिरवी रखकर फीस और स्कूल के खर्च की व्यवस्था करती थीं और जब रुपया आ जाता था तो उनको छुड़ा लेती थीं। बड़े हो जाने पर भी मालवीय जी को अपने वे धनहीन अवस्था के दिन याद रहे और वे सदैव निर्धन विद्यार्थियों की फीस माफ कराके तथा अन्य प्रकार से सहायता करते रहे। हिंदू विश्वविद्यालय में सैकड़ों विद्यार्थी स्वयं अथवा किसी अन्य के द्वारा मालवीय जी की सेवा में फीस माफ कराने की प्रार्थना करते थे और वे यथासंभव किसी को निराश न होने देते थे। विद्या-प्रचार की लगन मालवीय जी मे इतनी अधिक थी कि उन्होंने हिंदू विश्वविद्यालय स्थापित करने से

बहुत पहले ही शिक्षा-प्रचार का महत्त्व जनता को समझाना आरंभ कर दिया था। जब उन्होंने प्रयाग से 'अभ्युदय' (साप्ताहिक पत्र) को प्रकाशित करना आरंभ किया तो 'अभ्युदय' के एक-एक अक्षर की व्याख्या करते हुए लिखा था—

"इसका दूसरा अक्षर 'भ' हमको सबसे पहले उन्हीं भगवत् की भक्ति का स्मरण दिलाता है, जिन्होंने कहा है—'न मे भक्तः प्रणश्यति'। फिर यह हमको भूति (लक्ष्मी जी) का स्मरण दिलाता है। फिर यह सबको भगवद् गीता, भागवत, भागीरथी, भारती, भाषा और भारत का स्मरण दिला कर आत्मा को आप्यायित करता है तथा यह उपदेश करता है कि यदि देश का—समाज का अभ्युदय चाहते तो भारत, भगवद्गीता, भागवत का उपदेश कंठ में धारण करो, भगवान्, भागीरथी, भारती भाषा, भारतवर्ष में भक्ति करो, भागीरथी के पवित्र तट पर भारती की उपासना का एक बहुत बड़ा मंदिर है—एक विश्वविद्यालय बनाओ और संस्कृत एवं भाषा के द्वारा विद्या का प्रचार करो।"

इसी प्रकार एक अन्य लेख में, जो कुछ ही महीने बाद लिखा गया था, उन्होंने देशवासियों की शिक्षा के प्रति उदासीनता पर बहुत खेद प्रकट किया और कहा—"भारतवर्ष की दशा ऐसी शोचनीय हो गई है कि नीची जातियों में शिक्षा प्रचार के लिए क्या कहा जाए, उच्च जातियों में भी विद्या का अभाव है। इसका कारण हमारी सरकार की उदासीनता और सर्व साधारण का उसकी ओर उचित ध्यान न देना ही है। सरकार इस देश में शिक्षा-प्रचार के लिए एक आना प्रति व्यक्ति के हिसाब से व्यय करती है। स्वयं इस देश के राजा-महाराजा सेठ-साहूकार, धनी लोग जो अपना समय सुखपूर्वक व्यतीत करते हैं, वे भी अपने देशवासियों की शिक्षा के लिए बहुत कम ध्यान देते हैं। भाँति-भाँति के विषय-भोग अथवा अपनी शान-शौकत के लिए वे चाहे जितना धन फूँक दें, परंतु अपनी संतान की शिक्षा के लिए भी आवश्यक धन खर्च करना उनको बहुत अखरता है। हम स्वीकार करते हैं कि सरकार हमारी शिक्षा के लिए बहुत कम व्यय करती है, पर क्या हम स्वयं अपनी शिक्षा का कुछ भी प्रबंध नहीं कर सकते ? सरकार जब कोई नया टैक्स हमारे सिर पर मढ देती है तो

हम चाहे प्रसन्नता से अथवा अप्रसन्नता से, वह धन देते जरूर हैं। हम क्यों देते हैं ? क्योंकि सरकार बहुत जबर्दस्त है। इसी प्रकार यदि हम शिक्षा-प्रचार के लिए अपने ऊपर टैक्स लगा लें और उसे नियमित रूप से शिक्षा-प्रसार के कार्य में लगाते जायें, तो क्या शिक्षा-क्षेत्र में हमारी उन्नति नहीं हो सकती ? क्या हम लोग, जो स्वतंत्रता के पक्षपाती हैं, स्वराज्य पाने की इच्छा रखते हैं, थोड़ा-सा स्वार्थ-त्याग करके देश में शिक्षा का प्रचार बढ़ाने का साहस नहीं कर सकते ?"

मालवीय जी केवल लड़कों की शिक्षा के लिए ही प्रयत्नशील नहीं रहे वरन् लड़कियों की शिक्षा को भी वे उतना ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझते थे, उन्होंने अपने हिंदू विश्वविद्यालय में लड़कों की शिक्षा की तरह कन्या-शिक्षा की भी उचित व्यवस्था की थी और उनको ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएँ दी थीं। हमको याद है कि विद्यालय के एम० ए० संस्कृत-विभाग में पढ़ाने वाले एक अध्यापक ने एक लड़की को वेद पढ़ाने से इनकार किया था, पर मालवीय जी ने इसका प्रतिवाद करके उसको पढ़ सकने की अनुमति दी। इसके बहुत समय पहले सुदृढ़ तर्कों के आधार पर स्त्री-शिक्षा का महत्त्व सिद्ध कर चुके थे। उन्होंने कहा था—

"हमारे जातीय जीवन में सैंकड़ों वर्षों से अंध-विश्वासरूपी संस्कार इकट्ठे हो गये हैं, जिनके कारण ही हमारी जाति प्राण-विहीन समझी जाती है। इन कुसंस्कारों को हटाने के लिए ब्रह्मचर्य और सच्चरित्र रूपी पैने हथियारों का उपयोग करना जातीय-जीवन के उत्थान का एकमात्र मार्ग है। परंतु हमारा सच्चरित्र होना, ब्रह्मचारी बनना तथा अंधविश्वास का परित्याग करना तभी हो सकता है जब हम अपने स्त्री-वर्ग का सुधार कर उसे अपने अनुकूल बना लें। जब तक हम इस वर्ग को अपने साथ लेकर नहीं चलते, तब तक हम कभी जातीय-जीवन की लहलहाती लता को देख कर आनंदित नहीं हो सकते। क्योंकि मनुष्य-समाज का कल्याण अथवा अकल्याण, उच्च अथवा नीच होना स्त्रियों के ही हाथ में है। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक पुरुष इन्हीं के हाथ की कठपुतली है। वे जिस प्रकार चाहें उसको चलावें। पुरुषों को सदा उनके अधीन रहना पड़ता

है। यदि स्त्रियाँ पुरुषों के साथ रह कर उनके लाभ अथवा सुख की सहायक न हों, तो पुरुष कभी सुखी अथवा आनंदित नहीं रह सकते। पुरुषों की अवनति तथा उन्नति वास्तव में स्त्रियों के ही हाथ में है। परंतु ऐसा तभी हो सकता है जब उनको सब प्रकार की गूढ़ नीति समझने और यथासमय उसका उत्तम रूप से उपयोग करने के लिए उपयुक्त शिक्षा दी जाए। हमारा तात्पर्य शिक्षा से हृदय और मन की सारी शक्तियों का सम्यक् रूप से विकास और उनकी पूर्ण पुष्टि से है। स्त्रियों को ईश्वर की दी हुई विपुल शक्ति को जीवन के उच्च आदर्श के सामने लाकर सुगठित करना और कर्मशील बनाना ही हमारा उद्देश्य है और यही हमारे जातीय जीवन का मूल और कर्तव्य-कर्म है।"

मालवीय जी को यद्यपि अनेक लोग पुरातनवादी कहते थे, पर स्त्री-शिक्षा के संबंध में उन्होंने दकियानूसी लोगों की इस दलील को सर्वथा अग्राह्य कर दिया कि—'यदि स्त्रियों को पुरुषों के समान शिक्षा मिलने लगेगी तो समाज में घोर विप्लव और घरों में महान् अनर्थ पैदा हो जायेंगे। स्त्रियाँ घरों से निकल कर सभा-समाज करती फिरेंगीं, गृह-कार्य, संतान-पालन, पति की सेवा और कुटुंबियों के आदर-सत्कार की ओर उनका लक्ष्य बिल्कुल न रहेगा।' इसका उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा—"हमें इस प्रकार के पाप का कोई कारण दिखलाई नहीं पड़ता। क्या कभी किसी ने यह भी सुना है कि विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त करके पुरुष धन पैदा करने, अपने परिवार का पालन-पोषण करने अथवा गृह-कर्तव्य साधन के अयोग्य हो गया हो ? जिस शिक्षा द्वारा पुरुषों में मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक गुणों का प्रकाश होता है, जिसकी सहायता से जीवन उच्च हो जाता है, उसी शिक्षा को पाकर स्त्रियों के मन और हृदय उन्नत न होकर अधोगति की ओर आकर्षित होंगे—यह कैसे आश्चर्य की बात है ! जो शिक्षा पुरुषों को प्रकाश की ओर ले जाती है, वही स्त्रियों को अंधकार की ओर घसीट ले जायेगी—यह कहाँ का विचित्र न्याय है ?"

शिक्षा के संबंध में मालवीय जी के विचार सदैव ऐसे ही उदार रहे और वे अपने अंतिम समय तक हर तरह से विद्यार्थियों की

सहायता करते रहे। हिंदू विश्वविद्यालय में उस समय हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। उनमें से कितने ही गरीब घरों के होते थे, जो कठिनाइयों के बीच जैसे-तैसे विद्याभ्यास को जारी रखते थे। मालवीय जी केवल शिक्षा और नियम संबंधी त्रुटियों के हो जाने पर ही उनकी सहायता नहीं करते थे, वरन् उनके रहन-सहन, खान-पान और स्वास्थ्य आदि का भी ध्यान रखते थे। इस तरह की एक-दो घटनाओं का जिक्र करते हुए लेखक ने बतलाया है—

"मालवीय जी का प्रतिदिन का यह नियम था कि वे नित्य कर्म से निवृत्त होकर कभी आचार्य ध्रुव जी के साथ और कभी अकेले ही किसी छात्रावास या कॉलेज में जाकर निरीक्षण करते। छात्रावास में विद्यार्थियों का सुख-दुःख पूछते थे। वे पूछते थे कि व्यायाम करते हो या नहीं ? संध्या-वंदन करते हो या नहीं ? दूध पीते हो या नहीं इत्यादि ? एक दिन एक छात्रावास में जा रहे थे कि एक लड़का आता हुआ दिखलाई पड़ा। मालवीय जी ने उसे देख कर पूछा कि—दूध पीते हो या नहीं ? उसने उत्तर दिया कि, वह बहुत गरीब है, दूध के लिए पैसे कहाँ से लाये ! मालवीय जी जब घर लौटे तो उन्होंने उस लड़के के लिए दूध का प्रबंध करा दिया। ऐसी घटनाएँ आये दिन हुआ करती थीं।"

"एक बार मालवीय जी रात्रि में किसी छात्रावास में गये। एक संस्कृत का विद्यार्थी चूल्हे पर दूध गरम कर रहा था। वे उस पर नाराज हुए और कहा, इससे गंदगी फैलती है और कमरे के भीतर दमचूल्हा जलाना नियम के विरुद्ध है। यह कह कर उन्होंने उस पर पाँच रुपया जुर्माना किया। परंतु घर आकर उन्होंने पाँच रुपया भेज दिया कि वह उस जुर्माने को जमा कर दे और भविष्य में ऐसा अपराध न करे।"

"जयकुमार नाम का छात्र आचार्य के अंतिम वर्ष की परीक्षा देने वाला था। पिता का स्वर्गवास हो जाने से वह अंत्येष्टि के लिए घर गया। उसको लौटने में देर हो गई, जिससे उपस्थिति में कमी पड़ गई और नियमानुसार परीक्षा में सम्मिलित होना असंभव हो गया। उसने मालवीय जी के सामने जाकर अपना प्रार्थना-पत्र रखा और यह श्लोक पढ़ा—

या त्वरा द्रौपदी त्राणे या त्वरा गजमोक्षणे।
मय्यार्ते करुणानाथ ! सा त्वरा क्व गता हि ते।।

"द्रौपदी के उद्धार और गजराज की रक्षा में आपने जो शीघ्रता प्रकट की थी, हे करुणामय ! मेरी विपत्ति के समय वह शीघ्रता कहाँ चली गई ?"

इसे बोलते हुए उसके नेत्रों में आँसू बहने लगे। मालवीय जी के नेत्रों में भी आँसू आ गये और प्रार्थना-पत्र पर उसी समय लिख दिया—'ही शुड वी एडमिटेड।' तत्पश्चात् वह छात्र प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो गया।"

इस प्रकार की सैकड़ों घटनाएँ मालवीय जी के जीवन की हैं, जिनमें उन्होंने तरह-तरह से सहायता देकर बहुसंख्यक युवकों के जीवन को बर्बाद होने से बचा लिया और उनको भावी जीवन में सफलता प्राप्त करने का अवसर दिया। हिंदू विश्वविद्यालय की सफलता और वहाँ के छात्रों तथा अध्यापकों को कर्तव्यपरायण तथा उन्नतिशील बनाने के लिए तो उन्होंने अपना जीवन ही अर्पण कर दिया।

देश-सेवा की लगन—

मालवीय जी के हृदय में आरंभ से ही देश-सेवा और समाजोत्थान की भावना प्रबल थी। यद्यपि घर की गरीबी और माता के आग्रह से उन्होंने बी. ए. पास कर लेने पर लगभग दो वर्ष तक गवर्नमेंट स्कूल में अध्यापकी की और बाद में कई वर्ष तक वकालत भी की, पर उनका ध्यान सदा 'देश-सेवा, समाज-सेवा और धर्म-सेवा' की तरफ आकर्षित रहता था। इसलिए दो-डेढ़ वर्ष तक अध्यापकी करने के पश्चात् ही वे कालाकांकर के राजा रामपालसिंह के निमंत्रण पर उसे छोड़ कर 'हिंदुस्तान' दैनिक पत्र का संपादन करने चले गये। यद्यपि राजा साहब ने उनको साठ की जगह दो सौ वेतन दिया था, पर वे मुख्यतया इसी ख्याल से गये थे कि अखबार द्वारा वे अपने तीनों प्रकार के सेवा-कार्यों को अधिक अच्छी तरह पूरा कर सकेंगे।

मालवीय जी ने ढाई वर्ष तक 'हिंदुस्तान' का संपादन बड़े उत्साह और योग्यता से किया। उस समय उनकी आयु यद्यपि

२६ वर्ष की ही थी, पर वे भारतीय राजनीति में पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त कर चुके थे और कांग्रेस के नेताओं में उनकी गिनती होने लग गई थी। कलकत्ता में होने वाले द्वितीय वार्षिक अधिवेशन में उनका भाषण सुन कर ही राजा रामपालसिंह ने उनको 'हिंदुस्तान' का संपादक चुना था। 'हिंदुस्तान' के लेख बड़े तथ्यपूर्ण और प्रभावशाली होते थे और उनके कारण थोड़े समय में उसका नाम देश भर में फैल गया। वह हिंदी का पहला दैनिक था, जिसका नाम देश-विदेशों तक फैला और जिसने राजनीति तथा साहित्य-क्षेत्र में कुछ कहने लायक काम कर दिखाया। ढाई वर्ष बाद उन्होंने किस प्रकार उसे छोड़ा, इसकी कथा भी उनकी महानता तथा दृढ़ता की परिचायक है। उसे भी संक्षेप में सुन लीजिये।

जब राजा रामपालसिंह ने मालवीय जी से 'हिंदुस्तान' का संपादन करने को कहा, तो उसे स्वीकार करने में उनको एक बड़ा संकोच हुआ। मालवीय जी कट्टर सनातनधर्मी ब्राह्मण थे और एक राजा साहब विलायत से लौटे हुए क्षत्रिय, जिनको मद्य-मांस से जरा भी एतराज न था। विलायत से वे एक योरोपियन महिला को विवाह करके ले भी आये थे। मालवीय जी को किसी मदिरा पीये हुए व्यक्ति के पास बैठना कठिन जान पड़ता था। इसलिए उन्होंने राजा साहब से यह शर्त तय करली कि, जब वे मद्य पिये हों तो उनको बातचीत के लिए न बुलावें, अन्यथा वे वहाँ कार्य न करेंगे। ढाई वर्ष तक यह व्यवस्था ठीक चली, पर एक दिन नशे में राजा साहब से भूल हो गई और उन्होंने उसी समय मालवीय जी को बुला लिया। ज्यों ही मालवीय जी को यह मालूम पड़ा कि राजा साहब मद्य पिये हुए हैं, त्यों ही वे बात समाप्त करके चले आये और उसी समय नाव में बैठकर प्रयाग वापस आ गये। बाद में राजा साहब ने अपनी भूल स्वीकार करके मालवीय जी से पुनः संपादन भार सँभालने के लिए अनुरोध किया, पर वे किसी तरह राजी न हुए। तब राजा साहब ने उनको वकालत पढ़ कर वकील बनने की सलाह दी और उसका तमाम खर्च देने का वायदा किया। मालवीय जी ने बहुत इनकार किया, पर वे बराबर २५०) महीना भेजते रहे, जब तक कि मालवीय जी वकालत न करने लग गये।

मालवीय जी की वकालत खूब चली और कुछ समय बाद उनकी आमदनी कई हजार रुपया महीना तक हो गई। उस समय की एक घटना है कि राष्ट्रीय काँग्रेस के प्रधानमंत्री पं. अयोध्यानाथ ने ह्यूम साहब से शिकायत की कि जब से मालवीय जी वकालत करने लगे हैं तब से कांग्रेस के काम पर ढिलाई करने लगे हैं। ह्यूम साहब ने कहा—"ठीक ही करते हैं, इन्हें कानून की ओर ही पूरा ध्यान लगाना चाहिए।" फिर मालवीय जी की ओर देखकर बोले—"देखो मदनमोहन ! ईश्वर ने तुम्हें तीव्र बुद्धि दी है। अगर मन लगा कर तुम दस वर्ष भी वकालत कर लोगे तो निश्चय ही आगे बढ़ जाओगे। तब तुम अपनी प्रतिष्ठा के कारण अधिक जन-सेवा कर सकोगे।"

वकालत के पेशे में भी मालवीय जी ने सेवा-भावना का त्याग नहीं किया, जैसा वकीलों में प्रायः देखा जाता है। एक दिन वे काम समाप्त करके बाहर जा रहे थे, तो एक व्यक्ति शोकाकुल-सा इनके पास आया और कहने लगा—"आज हाईकोर्ट में मेरा मुकदमा है। मुंशी कालिंदीप्रसाद मेरे वकील हैं, पर वे कहीं चले गये हैं। मैं बहुत गरीब आदमी हूँ, मेरे पास किसी दूसरे वकील को देने के लिए रुपये नहीं हैं। जिस वकील के पास जाता हूँ, उनका मुंशी पहले फीस माँगता है। समझ में नहीं आता, क्या करूँ। आप धर्मात्मा हैं, इसीलिए आपकी शरण में आया हूँ।" मालवीय जी का हृदय उसकी बेवसी देख कर पसीज उठा। वे स्वयं तो उस समय दूसरे काम में लगे थे, पर उन्होंने अपने एक खास व्यक्ति के साथ मुंशी गोकुलप्रसाद वकील के पास भेज दिया। उस आदमी का काम बिना कुछ खर्च किये हो गया। वे ऐसे असहाय लोगों की सहायता प्रायः कर दिया करते थे।

यद्यपि मालवीय जी की वकालत अच्छी चली और ह्यूम साहब की शिक्षा के अनुसार उससे उन्हें पर्याप्त धन भी मिल गया, पर उनकी अंतरात्मा उसकी तरफ आकर्षित नहीं होती थी। इसलिए जहाँ अन्य लोग आमदनी बढ़ने से उसी में तल्लीन हो जाते हैं, मालवीय जी आवश्यकतानुसार धन प्राप्त होने पर उससे विरक्त होने लग गये और धीरे-धीरे उसे छोड़ कर अपना पूरा समय समाज-सेवा तथा देशोत्थान के अन्य कार्यों में करने लगे।

'अभ्युदय' का प्रकाशन—

मालवीय जी सामयिक पत्रों को विशेष महत्त्व देते थे, क्योंकि उस जमाने में समाज-सेवा तथा देश-सेवा का प्रमुख माध्यम वे ही थे। 'हिंदोत्थान' का कार्य बंद कर देने के बाद वे इलाहाबाद से निकलने वाले 'इंडियन ओपिनियन' पत्र के कार्य में सहयोग देने लगे थे। उसके लेख भी बड़े जोरदार हुआ करते थे। यह मालवीय जी का ध्यान अपना एक निजी पत्र हिंदी में प्रकाशित करने की तरफ लगा था, जिसके द्वारा वे जनसाधारण के निकट संपर्क में बने रहें। 'अभ्युदय' के प्रथम अंक में उसका उद्देश्य बतलाते हुए उन्होंने लिखा—

"अभ्युदय का अर्थ है सब ओर से उदय—ऊपर उठना। देश के अभ्युदय का अर्थ है—देश का, अर्थात् देश के निवासियों का सब ओर से उदय। स्थायी सुख, संपत्ति और प्रभाव उसी के परिणाम होते हैं। सुख धन से होता है, मन धर्म से—सदाचार, विद्या और बुद्धि से प्राप्त होता है। विद्या और बुद्धि धर्म के आवश्यक अंग हैं। मनु भगवान् के समय से सभी तत्त्वदर्शी इस विषय में एक मत हैं। इसलिए विद्या और बुद्धि में वृद्धि करना हमारा परम कर्तव्य है। बिना इसके धर्म नहीं हो सकता, धर्म के बिना धन नहीं हो सकता और धन के बिना सुख नहीं मिल सकता।"

मालवीय जी ने यहाँ भारतीय शास्त्रों का सार-रहस्य थोड़े से शब्दों में प्रकट कर दिया है। धन मनुष्य को सुख मिलने का साधन अवश्य है, पर उसी अवस्था में जबकि वह धर्मानुकूल मार्ग से कमाया जाय। आजकल की तरह भ्रष्टाचार, रिश्वत, मिलावट, छीना-झपटी—किसी भी तरह से प्राप्त किया हुआ धन वास्तविक सुख का साधन नहीं हो सकता। हम ऐसे पाप की कमाई से 'धनी' बनने वालों को मूढ़तावश भले ही सुखी समझा करें, और चाहे वे स्वयं भी महलों और मोटरों में बैठ कर बड़प्पन का प्रदर्शन करते रहें, पर यदि उनके हृदय के भीतर घुस कर देखा जाय तो वहाँ सदैव अशांति और असंतोष का हाहाकार ही सुनाई पड़ेगा। इसलिए मालवीय जी का यह लिखना सोलह आने सत्य था कि—जो धन, धर्म (न्याय, ईमानदारी)

द्वारा प्राप्त होगा, वही सुख का साधन हो सकता है। इस बात को उन्होंने स्वयं ही आगे चल कर स्पष्ट किया था। उन्होंने अपने कथन की व्याख्या करते हुए कहा—

"देश के थोड़े से मनुष्यों को सुख प्राप्त होने से देश का अभ्युदय नहीं कहा जा सकता। जब कार्यपरायण और पाप से बच कर रहने वाले समस्त मनुष्यों को सुख प्राप्त हो और वह सुख स्थायी हो तभी उस देश के विषय में कहा जा सकता है कि उसका अभ्युदय हुआ है। सुख स्थायी तभी हो सकता है जब वह धर्म से उत्पन्न और धर्म से रक्षित हो। अधर्म से उत्पन्न या अधर्म से रक्षित सुख स्थायी नहीं होता और उसका परिणाम विष से भी अधिक कड़वा होता है। इसलिए अभ्युदय के लिए सर्वप्रथम धर्म, द्वितीय बिना धर्म के विरोध के उपार्जित धन और तृतीय धर्म और अर्थ के विरोध बिना प्राप्त होने वाला काम अर्थात् विषय-सुख—आवश्यक हैं। इन्हीं तीन को प्राचीन आचार्यों ने त्रिवर्ग कहा है।"

'अभ्युदय' के उच्च उद्देश्य और भारतवर्ष की महानता पर प्रकाश डालते हुए भी उन्होंने ठीक ही लिखा था—"पृथ्वी-मण्डल पर जितने पर्वत हैं, उनमें सबसे ऊँचा नगाधिराज हिमालय है। उसका सबसे ऊँचा-धवल शिखर पृथ्वी के सब पर्वतों की धवल चोटियों के ऊपर आकाश को शोभित करता है। हमारी प्रार्थना एवं अभिलाषा है, और परमेश्वर इसको पूर्ण करेगा, कि हमारे देश का अभ्युदय किसी अंश में कम न रहे, वरन् बढ़ा-चढ़ा ही रहे; जैसा कि हिमगिरी का शिखर और पर्वतों के शिखर से बढ़ा-चढ़ा है।" समय ने सिद्ध कर दिया कि मालवीय जी की दूरदर्शिता और संकल्प बल साधारण न था। अंत में वह सफल हुआ और सफलता में मालवीय जी का श्रेय कम न था।

'लीडर' की स्थापना—

दो वर्ष तक 'अभ्युदय' का संपादन करने के पश्चात् मालवीय जी को प्रांतीय कौंसिल का सदस्य बना लिया गया, जिससे उनको 'अभ्युदय' का संपादन भार श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन के सुपुर्द कर देना पड़ा, पर इसके पश्चात् भी सार्वजनिक सेवा के लिए

समाचार-पत्र निकालने की आवश्यकता को वे भुला न सके और कौंसिल के सदस्य बनते ही उन्होंने एक अँग्रेजी दैनिक पत्र निकालने का प्रयत्न आरंभ कर दिया। इस विचार-धारा ने उनको किस प्रकार प्रभावित किया इसका वर्णन करते हुए एक अवसर पर उन्होंने स्वयं कहा था—

" 'लीडर' के स्थापित होने के पूर्व एक दैनिक समाचार-पत्र की इलाहाबाद में बड़ी आवश्यकता थी। सन् १८७६ में स्वर्गीय पंडित अयोध्यानाथ जी ने 'इंडियन हेरल्ड' निकाला था और उस पर बड़ा धन व्यय किया था। यह पत्र तीन वर्ष चल सका। 'लीडर' के स्थापित होने का एक यह कारण भी था कि मैंने वकालत छोड़ने का निश्चय कर लिया था, और यह विचार कर रहा था कि तमाम सार्वजनिक कामों से अलग हो जाऊँ, जिससे हिंदू विश्व विद्यालय के लिए ठीक कार्य कर सकूँ। उस समय मेरे मन में आया कि यदि मैं बिना एक पत्र स्थापित किए सार्वजनिक जीवन से अलग होता हूँ, तब मैं अपने प्रांत के प्रति अपने धर्म को निबाहता हूँ। आज उसकी आवश्यकता इतनी अधिक और अनिवार्य जान पड़ी कि मैंने विचार किया कि सार्वजनिक जीवन से पृथक् होने के पहले एक पत्र यहाँ अवश्य स्थापित कर जाना चाहिये। मैंने इसका जिक्र छः मित्रों से किया और उन्होंने प्रसन्नता से उसके लिए धन दे दिया। आरंभ में इसके लिए चौंतीस हजार रुपया इकट्ठा हुआ। इतना रुपया एक दैनिक पत्र निकालने के लिए बहुत कम था। लेकिन मुझे अपने मित्रों पर विश्वास था। जिन्होंने फिर सहायता करने को कह दिया था और यह आशा सफल भी हुई। 'लीडर' ने निस्स्वार्थ भाव से देश और प्रांत की बड़ी लगन से सेवा की है।"

जन्म होने के दो-डेढ़ वर्ष के भीतर ही 'लीडर' का मूल धन समाप्त होने पर आ गया। जब बैंक में केवल पाँच हजार रुपया बच रहा तो डायरेक्टरों ने उसकी अंत्येष्टि करने का इरादा कर लिया, पर जब मालवीय जी के मुँह से ये शब्द निकले कि—'लीडर विल नाट डाई' ('लीडर' नहीं मरेगा), तो डायरेक्टरों में नई प्रेरणा और स्फूर्ति आ गई और वह फिर नये जोश के साथ चलने लगा।

मालवीय जी की धर्म-भावना—

हिंदू-विश्वविद्यालय के एक बड़े समारोह में 'लीडर'—संपादक श्री सी० वाई० चिंतामणि ने भाषण देते हुए पहला वाक्य यह कहा था—

"यदि मोहनदास करमचंद गांधी को 'महात्मा मोहनदास करमचंद गांधी' कहा जा सकता है, तो हम पंडित मदनमोहन मालवीय को सचाई के साथ 'धर्मात्मा पं० मदनमोहन मालवीय' कह सकते हैं।"

इसमें संदेह नहीं कि श्री चिंतामणि ने मालवीय जी के संबंध में जो मनोभाव प्रकट किये थे, वह दिखावटी या प्रशंसा-सूचक नहीं था, पर जो कोई मालवीय जी को थोड़ा-बहुत जानता है, वह अवश्य इन शब्दों की सार्थकता को अनुभव करेगा। मालवीय जी शास्त्र और परंपरा के दृढ़ अनुयायी होते हुए भी धर्म के वास्तविक मर्म को समझते थे और उनका पालन करते थे। वे धर्म का लक्षण यह बतलाते थे—

यत्तु आर्याः क्रियमाणं प्रशंसंति स धर्मः।

अर्थात्—"जिसे आर्यजन कहें कि अमुक कार्य करना प्रशंसनीय है, वही धर्म है।"

इसकी विशेष व्याख्या करने के लिए वे प्रायः निम्नलिखित श्लोक कहा करते थे—

अनुगंतुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते।
स्वल्प मप्यनुगंतव्यं मार्गस्थो नावसीदति।।

अर्थात्—"सत्पुरुषों व सज्जनों के मार्ग का यदि किसी कारण वश पूरी तरह अनुसरण न किया जा सके, तो उस मार्ग पर थोड़ा-थोड़ा ही चले। यदि वह उस पर चलेगा, तो उसको निराशा न होगी।"

सन्मार्ग की विवेचना करने के लिए वे सामवेद के एक मंत्र को प्रमाण मानते थे, जिसका अर्थ है कि—"दान द्वारा कृपणता पर विजय प्राप्त करो, अक्रोध द्वारा क्रोध को जीतो। श्रद्धा से अश्रद्धा का पराभाव करो। सत्य से असत्य को पीछे हटाओ। यही सन्मार्ग है, यही

अमृत है, यही स्वर्ग और प्रकाश की ओर गमन करना है।" मालवीय जी स्वयं इस पर आचरण करते थे। इसका प्रमाण कानपुर के कांग्रेस-अधिवेशन में मिला, जब मालवीय जी मोतीलाल जी नेहरु के किसी प्रश्न का विरोध करने उठे। मोतीलाल जी का स्वभाव बहुत तेज था और वे अपना विरोध कभी सहन नहीं कर सकते थे। इसलिए मालवीय जी को खड़े होते देख कर कहने लगे—"निश्चिंत होकर बैठ जाओ और पंडित जी से महाभारत और भागवत की कथा सुनो।" मालवीय जी ने हँस कर उत्तर दिया—"भाई मोतीलाल जी ने यदि इन ग्रंथों को ध्यान और श्रद्धा के साथ पढ़ा होता तो वे ऐसा न कहते।" मालवीय जी की शांति ने मोतीलाल के क्रोध को जीत लिया।

ब्राह्मण ही क्या प्रत्येक मनुष्य के लिए 'तप' एक आवश्यक धर्म कर्तव्य है। गीता (१८-४२) में शम, दम, तप, शौच आदि नौ गुणों को सच्चे ज्ञानी का लक्षण बतलाया है। मालवीय जी ने 'तप' की व्याख्या के लिए नीचे लिखा पद्य रचा था—

घट-घट व्यापक राम जप रे।
मत कर वैर झूठ मत भाखै।।
मत पर धन हर मत मद चाखै।
जीव मत मार जुआ मत खेलै।
मत पर तिय लख यही तेरो तप रे।।

अस्पृश्यता निवारण में सहयोग—

मालवीय जी एक प्रसिद्ध सनातनधर्मी माने जाते थे और आचार-विचार पर इतने दृढ़ थे कि विलायत-यात्रा के समय अपने साथ गंगाजल और गंगा की मिट्टी ले गये थे और विदेश में निरंतर उन्हीं का उपयोग किया, पर धर्म के बहाने वे किसी अन्यायपूर्ण प्रथा का समर्थन करने को तैयार नहीं थे। जब महात्मा गाँधी ने अछूतोद्धार का आंदोलन उठाया तो मालवीय जी ने भी उसमें सहयोग दिया और शूद्रों को 'मंत्र-दीक्षा' देने का निश्चय किया, पर वे किसी धार्मिक कार्य में स्वेच्छाचारिता के व्यवहार को बुरा मानते थे। इसलिए इसको कार्य रूप में परिणत करने के पहले उन्होंने सनातन धर्म के अनेक प्रसिद्ध पंडितों का एक बृहत् सम्मेलन प्रयाग में किया

और उसके सामने मनु तथा अन्य ऋषियों के वचनों का प्रमाण देते हुए एक प्रस्ताव रखा। इससे पुराने विचार के पंडितों में हलचल मच गई और एक पंडित ने उठ कर यहाँ तक कह दिया कि—'मालवीय जी अपने को मनु आदि से अधिक समझते हैं। उनके कहने से शूद्रों को 'मंत्र-दीक्षा' नहीं दी जा सकती।' पर इससे मालवीय जी तनिक भी विचलित न हुए और उन्होंने एक घंटा तक संस्कृत में भाषण करते हुए अंत में कहा—"मैंने आप जैसे विद्वानों के चरणों में मनु आदि ऋषियों के वचनों की समीक्षा, जैसी मेरी तुच्छ बुद्धि में आई, प्रस्तुत की है। निर्णय तो आप लोगों के हाथ में है। जैसा आप निर्णय करेंगे, उसका मैं पालन करूँगा, उनकी मधुर तथा विनम्र वाणी तथा युक्तियुक्त समीक्षा का इतना प्रभाव पड़ा कि सब पंडितों ने एक मत से प्रस्ताव का अनुमोदन कर दिया और प्रस्ताव सर्व सम्मति से पास हो गया।

इसके पश्चात् उन्होंने स्वयं काशी में गंगा तट पर बैठकर चारों वर्णों के लोगों—यहाँ तक कि चाण्डालों को भी 'ॐ नमः शिवाय', 'ॐ नमो नारायण', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' आदि मंत्रों की दीक्षा देनी आरंभ कर दी। इसके कुछ वर्ष बाद जब वे नासिक गये तो वहाँ गोदावरी के तट पर बहुत से हरिजनों को दीक्षा दी। प्रयाग तथा कलकत्ता में भी कई बार ऐसे ही दीक्षा-समारोह हुए। कहीं-कहीं धर्म के नाम पर अंधश्रद्धा में ग्रस्त लोगों ने विरोध करके हुल्लड़ मचाया, कहीं पत्थर-ढेला भी फेंके गये, पर मालवीय जी अपना काम करते रहे और मीठी वाणी में विरोधियों को शांत करते रहे। यही सच्चे धार्मिक जनों का लक्षण है।

महानता तथा सर्वप्रियता—

उनकी ऐसी महानता को देख कर ही एक बहुत बड़े सरकारी अधिकारी श्री बी० एन० मेहता ने, जो संस्कृत और पाश्चात्य साहित्य दोनों के प्रकांड विद्वान् थे, कहा था—

"वे (मालवीय जी) घोंघों और केकड़ों के समूह के बीच में दृढ़ चट्टान की भाँति खड़े हैं। उनका सुंदर, साँचे में ढला-सा शरीर, जिसका प्रत्येक अवयव बाह्य-आंतरिक सामंजस्य से दमक रहा है,

उनकी निरंतर तप की साधना, उनके उद्देश्य की महानता को समझकर, कौन ऐसा है जो बीसवीं शताब्दी में शंकर में समाविष्ट 'अति ब्राह्मण' को तुरंत न पहिचान लेगा ? कैलाश पर्वत के शिखर की भाँति वे उज्ज्वल वस्त्रों में आच्छादित होकर ऊँची मूर्ति के समान खड़े हैं। वे सृष्टि के आरंभ में होने वाले उस कमल की तरह हैं, जिसे कोई चीज दूषित नहीं कर सकती।"

महात्मा गांधी भी मालवीय जी के महान् गुणों के कारण उनका बड़ा सम्मान करते थे। सन् १९३१ में विलायत-यात्रा के अवसर पर उन्होंने कहा था—

"मैं तो मालवीय जी महाराज का पुजारी हूँ। पुजारी स्तुति के ठीक वचन कैसे लिख सकता है ? जो कुछ लिखेगा उसे अपूर्ण-सा प्रतीत होगा। मालवीय जी के दर्शन मैंने सन् १८९० के वर्ष में चित्र द्वारा किये थे। वही छवि मैं आज भी देख रहा हूँ। जैसे उनकी वेशभूषा में वैसे ही उनके विचारों में पूर्ण ऐक्य चला आया है। इस ऐक्य में मैंने माधुर्य और शक्ति को पाया है। आज मालवीय जी के साथ देश-भक्ति में कौन मुकाबला कर सकेंगे। यौवनकाल से लेकर आज तक उनकी देशभक्ति का प्रवाह अविच्छिन्न चलता आया है।"

मालवीय जी धर्म-भक्त, देश-भक्त और समाज-भक्त होने के साथ ही सुधारक भी थे, पर उनके सुधार कार्य में अन्य लोगों से कुछ अंतर था। अन्य सुधारक जहाँ समाज से विद्रोह, संघर्ष करने लग जाते हैं वहाँ मालवीय जी समाज से मिल कर चलने के ही पक्षपाती थे। वे सुधार अवश्य करते थे, जैसा उनके हरिजनों के मंत्र-दीक्षा देने के कार्य से प्रकट होता है, पर उन्होंने उस कार्य को लोगों को समझा-बुझा कर और राजी कर के ही किया। उनका मत था कि समाज से विद्रोह करके अथवा उससे पृथक् होकर अपने नये रास्ते पर चलने से कोई ठोस कार्य नहीं कर सकते। उस अवस्था में समाज हमारी बात की तरफ ध्यान ही न देगा, वरन् उलटा उसका विरोध करेगा। जिससे सुधार का उद्देश्य कुछ भी पूरा न हो सकेगा। यही बात उन्होंने अपने भतीजे श्री कृष्णकांत मालवीय को लिखी थी, जब उन्होंने विधवाओं की समस्या पर एक लेख 'अभ्युदय' में लिखा। उसकी कई बातें मालवीय जी को अपने सिद्धांतों के विपरीत जान

पड़ीं और उन्होंने कृष्णकांत जी को एक पत्र द्वारा उनकी भर्त्सना करते हुए लिखा—

"तुम समाज का हित करना चाहते हो, समाज की सेवा करना चाहते हो, किंतु समाज कभी तुम्हारी सेवा स्वीकार न करेगा—तुमको सेवा का अवसर ही न देगा—यदि तुम मर्म की बातों में समाज की मर्यादा का पालन न करोगे और समाज को मर्मवेधी वचन प्रकट रूप में कह कर दुखित और लज्जित करोगे। . . . सत्कार्य का उत्साह प्रशंसनीय है, किंतु तभी—जबकि वह मात्रा और मर्यादा के भीतर रहे। यदि उत्साह की बाढ़ में विवेक और विचार को बह जाने दोगे तो समाज का कुछ भी उपकार न कर सकोगे।"

यही कारण था कि मालवीय जी ने सुधार के कामों में कभी जल्दबाजी नहीं की और जो कुछ किया वह समाज को समझा-बुझा कर और साथ लेकर ही किया। उनका कहना था कि जब हम समाज का सुधार चाहते हैं, उसके कल्याण के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, तो उसके साथ रह कर ही वैसा किया जा सकता है। समाज से लड़कर उसकी निंदा, बुराई करके तो और भी बिगाड़ होगा, सुधार की आशा कैसे की जा सकती है ? उन्होंने अछूतों के साथ होने वाले अन्याय को बहुत पहले अनुभव कर लिया था। उन्होंने सन् १९०८ में ही लिखा था—

"वर्तमान समय में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी अपने कर्मों और धर्म से गिर गये हैं और सभी किसी न किसी प्रकार से दास बने हुए हैं। दास वृत्ति शूद्रों का लक्षण है, इसलिए हम लोग सब एक प्रकार से शूद्र हो गये हैं। ऐसी व्यवस्था में वर्णाश्रम धर्म कहाँ रहा ? सामाजिक दृष्टि से देखने और विचार करने से यही जान पड़ता है कि वर्णाश्रम-धर्म समाज और देश की स्थिति को स्थिर रखने और उसको समृद्ध बनाने का एक नियम है। पाश्चात्य देशों में जिसे 'डिवीजन ऑफ लेबर' अर्थात् कर्म विभाजन कहते हैं, उसी को ऋषियों ने वर्णाश्रम-धर्म के नाम से कहा था और इस प्रकार का कार्य विभाजन का क्रम सभी देशों में प्रचलित है तथा वास्तव में इसके बिना देश का काम चल नहीं सकता।"

जिस व्यक्ति के प्राचीन धार्मिक परंपरा के विषय में ऐसे बुद्धि और तर्कसंगत विचार हों, उसे किसी भी वर्ग या श्रेणी की अपेक्षा करने वाला अथवा घृणा करने वाला कैसे कहा जा सकता है ? यह हो सकता है कि अनेक गर्म विचारों के अथवा उतावले स्वभाव के व्यक्ति उनकी कार्य प्रणाली को पसंद न करे अथवा उसे प्रभावशाली न मानें, पर स्थायी और ठोस कार्य के इच्छुक उसके महत्त्व को अवश्य स्वीकार करेंगे। मालवीय जी स्वभाव से ही यथासंभव समझौते से कार्य को सिद्ध करने की नीति में विश्वास रखते थे और इसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं राजनैतिक क्षेत्र में भी उन्होंने बड़ी-बड़ी कठिन समस्याओं को सुलझा दिया। मतभेद रहने पर भी प्रत्येक दल और सिद्धांत के छोटे-बड़े नेता उनका सम्मान करते थे—उनसे प्रेम करते थे। यद्यपि लाला लाजपतराय और मालवीय जी के राजनीतिक विचारों में पर्याप्त अंतर और मतभेद था, पर उन्होंने मुक्त कंठ से कहा था—

"ऑफ आल द इंडियन लीडर्स आई लव मालवीय जी द मोस्ट, दो आई रेस्पेक्ट गांधी जी द बेस्ट।" (समस्त भारतीय नेताओं में मैं मालवीय जी को सबसे अधिक प्रेम करता हूँ, यद्यपि सबसे अधिक सम्मान मेरी दृष्टि में गांधी जी का है) इस बँटवारे को लाला जी ने 'सम्मान का समुचित' विभाजन माना था।

मालवीय जी भिक्षुक के रूप में—

मालवीय जी को अनेक विद्वानों ने 'भिक्षुक-सम्राट्' की पदवी दी थी। निस्संदेह अधिकांश लोगों को एक छोटी-सी संस्था या सार्वजनिक समारोह के लिए हजार-पाँच सौ रुपया चंदा इकट्ठा करने में ही पहाड़ को उठाने जैसा भार प्रतीत होता है। यद्यपि वे जानते हैं कि यह कार्य हम लोक-कल्याण के लिए कर रहे हैं और हमारा इसमें किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं है, तो भी किसी के सामने हाथ पसारना उन्हें संकोचजनक ही जान पड़ता है। यह मालवीय जी का ही साहस था, जो उन्होंने अकेले ही 'हिंदू विश्वविद्यालय' जैसी विशाल संस्था को खोलने का संकल्प कर लिया और उसके लिए कई करोड़ रुपया इकट्ठा कर दिखाया। उनकी इस विशेषता का

जिक्र करते हुए सेंट जोन्स कॉलेज (आगरा) के रसायन-विभाग के प्राध्यापक ने 'प्रिंस ऑफ बैगर्स' (भिक्षुओं के राजा) शीर्षक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने कहा था—

"बहुत लोगों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है कि पिछले बीस वर्ष में भारत ने संसार को दो सर्वोच्च भिक्षुक दिये हैं, जिनके सामने अन्य सब बौने ही जान पड़ते हैं, जैसे हिमालय के सामने अन्य सब पर्वत नगण्य जान पड़ते हैं।...निःसंदेह उन दो में से एक तो महात्मा गांधी हैं। हमारे ध्यान में उनके सिवा केवल एक ही व्यक्ति और है, जिसे उनकी बगल में बिठाया जा सकता है, और वे हैं—पंडित मालवीय जी। प्रत्येक कला के आचार्य की भाँति उनका अपना एक अलग ढंग और एक निराली पद्धति थी। वे छोटे आदमियों को परेशान नहीं करते थे, वरन् यह ध्यान रखते थे कि राजा, महाराजा, जगत्-सेठ और करोड़पति उनकी तरफ आकर्षित हों।"

"यह निश्चित है कि उनका ढंग और कार्य प्रणाली 'अर्द्ध नग्न फकीर' (महात्मा गांधी) से भिन्न होगी। उत्तर प्रदेश के भिक्षुक के लिए, यह स्वाभाविक था कि वह भिक्षा माँगने में अधिक शिष्ट और अधिक परिमार्जित ही नहीं अधिक शानदार भी हो। उनका यह ढंग उनके नितांत निर्मल श्वेत वस्त्र, भव्य शरीर और मीठी मनोहारिणी वाणी से, बड़ी खूबी के साथ संतुलित जान पड़ता था।" इसमें कोई संदेह नहीं कि मालवीय जी के चंदा माँगने पर यह प्राचीन दोहा पूरी तरह लागू होता था—

मर जाऊँ माँगू नहीं, अपने हित के काज।
पर-कारज हित माँगिबो, मोहि न आवै लाज।।

मालवीय जी विश्वविद्यालय के निमित्त धन इकट्ठा करने में कहाँ तक आत्म-त्याग कर सकते थे, इसका एक उदाहरण तब देखने में आया जब उन्होनें राजा बलदेवदास बिड़ला से एक बड़ी रकम प्राप्त की थी। बात यह हुई कि मालवीय जी ने सुना कि राजा बलदेवदास कुछ दान करना चाहते हैं, पर शर्त यह है कि कोई ब्राह्मण उसे गंगाजी में बैठकर ग्रहण करे। मालवीय जी इसके लिए

तुरंत तैयार हो गये। यद्यपि इष्ट मित्रों तथा काशी के पंडितों ने भी इसका विरोध किया, पर मालवीय जी ने अपना विचार न बदला। जब राजा बलदेवदास जी को मालूम हुआ कि मालवीय जी जैसा सात्त्विक ब्राह्मण उनका दान लेने को तैयार है, तो उनको आश्चर्य और प्रसन्नता दोनों हुए। उन्होंने दान की रकम भी काफी बढ़ा दी और गंगाजी के भीतर खड़े होकर दान की रकम का चैक और कुशा हाथ में लेकर मालवीय जी को दान दे दिया। मालवीय जी ने भी उस एक लाख से अधिक की रकम को, कुछ रुपया अपनी तरफ से मिलाकर विद्यालय को दान कर दिया।

विश्वविद्यालय के चंदे के लिए मालवीय जी ने कहीं भी जाने और किसी से भी माँगने में संकोच नहीं किया। यद्यपि अलीगढ़ की मुस्लिम यूनीवर्सिटी के मुकाबले में 'हिंदू यूनीवर्सिटी' स्थापित होने की बात अनेक लोगों को बहुत 'अपील' करती थी, पर वह जमाना ऐसा था कि लोग सार्वजनिक कार्यों के महत्त्व को बहुत कम अनुभव करते थे और ऐसे कामों में प्रायः तभी भाग लेते थे जब सरकार को उसके अनुकूल समझ लेते थे। ऐसे लोगों में इलाहाबाद के ही एक रईस साँवलदास जी कक्कड़ थे। वे अंग्रेजी सरकार के बड़े भक्त थे और उच्च सरकारी अधिकारियों के संपर्क में रहते थे। उस समय अधिकांश लोग स्कूल-कालिजों आदि की स्थापना और व्यवस्था सरकार का कार्य और अधिकार समझते थे। ऐसे लोग जहाँ तक हो सकता था सार्वजनिक कार्यों से दूर ही रहते थे, क्योंकि उनको संदेह रहता था कि शायद इस तरह का कोई काम सरकारी अधिकारियों को नापसंद हो। पर मालवीय जी मुहल्ले का पुराना परिचय होने के आधार पर उनके पास भी पहुँच गये और उनसे चंदा ले आये। इस घटना का जिक्र करते हुए एक बार साँवलदास जी ने बतलाया था—

"एक दिन जब मैं दफ्तर के काम से जा रहा था, मालवीय जी मेरे पास चंदा के लिए आये और मैं उनकी मनमोहिनी वाणी से इतना बेबस हो गया कि बिना तनिक भी सोचे-समझे उन्हें तुरंत चैक दे दिया। बाद में मैं अक्सर सोचता था कि मुझे उस पर विचार करने के लिए कुछ समय लेना चाहिए था और इतनी जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए थी। परंतु पंडित जी के माँगने में कुछ ऐसी जादू की शक्ति

थी, जो रोकी नहीं जा सकती थी।'' उनके विषय में किसी उर्दू शायर का यह कथन बिल्कुल सच था—

असर लुभाने का प्यारे ! तेरे बयान में है।
किसी की आँख में जादू, तेरी जबान में है।।

मालवीय जी का यह जादू वास्तव में उनकी निःस्वार्थ भावना ही थी। जो व्यक्ति अपनी अच्छी आमदनी और आराम के धंधे को छोड़कर सार्वजनिक कार्यों के लिए जगह-जगह दौड़ता फिरे और तरह-तरह की असुविधाएँ सहन करे, उस पर कोई जल्दी स्वार्थपरता या चालाकी का संदेह नहीं कर सकता था। जब लोग यह देखते थे कि मालवीय जी में इतनी योग्यता है कि वकालत द्वारा दस-पाँच हजार रुपया माहवारी पैदा करके ठाठ के साथ जीवनयापन कर सकते हैं अथवा सरकार में कोई बड़ी पदवी पाकर यश और नामवरी का आनंद भी उठा सकते हैं, पर फिर भी वे उस सबका त्याग कर तरह-तरह के झंझटों और कठिनाइयों से भरे मार्ग को अपना रहे हैं, तो निश्चय ही उन पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। उनकी वाणी में जो ईश्वर प्रदत्त मधुरता और मोहित कर लेने वाली शक्ति थी। वह इस प्रभाव से मिल कर श्रोता पर एक अलौकिक प्रभाव डालती थी, जिससे सामान्य व्यक्ति ही नहीं बड़े-बड़े विद्वान् और मनीषी उनके अनुयायी बन जाते थे। उनकी इस विशेषता को लक्ष्य करके ही राष्ट्रपति श्री मैथिलीशरण ने गाया था—

भारत को अभिमान तुम्हारा, तुम भारत के अभिमानी।
पूज्य पुरोहित थे हम सबके, रहे सदैव समाधानी।।
तुम्हें कुशल याचक कहते हैं, किंतु कौन तुम-सा दानी।
अक्षय शिक्षा सत्र तुम्हारा, हे ब्राह्मण-ब्रह्म ज्ञानी।।
स्वयं मदन मोहन की तुम में, तन्मयता है समा गई।
कल्याणी वाणी जन-जन के, हित में धूनी रमा गई।।

मालवीय जी की तुलना प्राचीन समय के उन मुनि-ऋषियों से की जा सकती है कि जो राजा-महाराजा और श्रीमंतों से सुवर्ण सहित हजारों गायों का दान लेकर उनके द्वारा गुरुकुलों का संचालन करते

थे। यद्यपि देश-काल में परिवर्तन हो जाने से अब बड़े-बड़े दान बैंकों के चैक द्वारा दिये जाते हैं और गुरुकुलों का स्थान आलीशान इमारतों में चलने वाले विद्यालयों ने ले लिया है, पर तथ्य की निगाह से दोनों में कोई अंतर नहीं। यह मालवीय जी के तप-त्याग और आत्म-समर्पण का ही परिणाम था कि अकेले करोड़ों का चंदा प्राप्त कर सके और उसकी एक-एक पाई उन्होंने विद्यालय के निमित्त खर्च कर दी।

मालवीय जी और देश-भक्ति—

हमने कभी-कभी किसी के मुँह से सुना है—"मालवीय जी राज-भक्त थे, अँग्रेजों से मिल कर रहते थे, इसलिए उनको देश-भक्त नहीं कहा जा सकता।" हम अच्छी तरह जानते हैं कि जो लोग ऐसी बातें मुँह से निकालते हैं वे स्वयं सिवाय बातें बनाने वाले के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होते। वे सार्वजनिक हित के लिए कोई त्याग, कष्ट सहन नहीं करते, पर दूसरों की आलोचना करके ही वे स्वयं बड़े देश-भक्त अथवा राजनीतिज्ञ बनना चाहते हैं।

मालवीय जी की देश-भक्ति उथली, दिखावटी अथवा सामयिक नहीं थी। वे आरंभ से ही राष्ट्रीयता तथा देश-भक्ति के मूल तत्त्व को जानते थे और भारतवर्ष में उसका अभाव देख कर उसके प्रचार का प्राणपण से उद्योग करते रहते थे। इस संबंध में उन्होंने अब से साठ वर्ष पूर्व एक लेख में इस विषय में विचार करते हुए लिखा था—

"राष्ट्रपिता किसे कहते हैं ? राष्ट्रपिता उस भाव का नाम है, जो कि देश के संपूर्ण निवासियों के हृदय में देश हित की लालसा के साथ व्याप रहा हो, जिसके सामने अन्य सब भाव नीची श्रेणी में रहते हों। भारत में यह राष्ट्रीय भाव कैसे पैदा हो ? प्रत्येक भाव में भक्ति और प्रेम होते हैं। प्रकृति का यह नियम है कि मनुष्य जिस वस्तु से प्रेम रखता है उसका दास बन जाता है और उसके आगे अन्य समस्त वस्तुओं को तुच्छ समझता है। धन से प्रेम रखने वाले धर्म और यश की कुछ भी अपेक्षा नहीं करते। इसी प्रकार जिनको धर्म और यश प्यारा है, उनके आगे धन मिट्टी के समान है। एक युवक

विद्या के उपार्जन में समस्त विषय-भोगों का परित्याग कर देता है और दूसरा खेल-कूद में ही अपना समय बिताता है। एक दयालु आत्मा को तो दूसरों के साथ इतनी सहानुभूति होती है कि उनके दुःख से वह प्रति क्षण व्यग्र रहता है, और दूसरी ऐसी भी आत्मा होती है जो 'आप मरै जग परलै होय' की कहावत पर ही चलती है। कुछ ऐसे पुरुष हैं जो गवर्नमेंट की खैरख्वाही के पुछल्लों के लिए सच-झूठ बोल, न्याय-अन्याय का विचार न कर, दिन-रात खुशामद में ही लगे रहते हैं, और दूसरे ऐसे भी हैं जिनके प्रेम और भक्ति का विषय अपनी मातृ-भूमि ही है। वे सच्चे सपूत दिन-रात कष्ट और हानियाँ उठाते हुए भी देश का हित करने में ही मग्न रहते हैं।"

"जब देश में इसी भाव की बहुत-सी आत्माएँ उत्पन्न हो जाती हैं और उन सबका मन मिल जाता है तो वे एक ही उद्देश्य रखते हुए, अपने सच्चे प्रयत्नों से अपने आपको नमूना—अगुआ बनाते हुए, आपत्तियाँ झेलते हुए समस्त देशवासियों के हृदय में देश-भक्ति के भाव उत्पन्न कर देते हैं। थोड़े दिनों में देश ही सब लोगों में प्रेम और भक्ति का विषय हो जाता है और मतभेद, वर्णभेद, जातिभेद के होते हुए भी राष्ट्रीयता का श्रेष्ठ भाव देशव्यापी हो जाता है। जापान राष्ट्रीयता की इस श्रेणी पर पहुँच चुका है। जापानियों में बौद्ध, ईसाई और अन्य मतावलंबी भी हैं। परंतु यदि किसी से पूछा जाय कि आप कौन हो, तो वह अपने को बौद्ध, ईसाई अथवा अन्य मतावलंबी नहीं बतायेगा, किंतु कहेगा कि मैं जापानी हूँ। मेरा धर्म जापान है, मेरा कर्म जापान है, मैं जापान हूँ और मेरा सर्वस्व जापान है।"

आगे चल कर बतलाया है कि भारतवासी प्राचीन काल में धर्म को ही सब कुछ मानते थे, पर जैसा आजकल हो रहा है वह दुःखदायी है। धर्म को एक तमाशा बना लेना मूर्खता है। धर्म की आड़ में अपनी काहिली, निर्बलता और मानसिक अयोग्यता को छिपाना नाश का कारण होता है। सच्चा धर्म वही है जो देशभक्ति द्वारा प्राप्त हो। देश-भक्ति का संचार हमारे हृदय से स्वार्थ को निकाल कर फेंक देगा। हम अदूरदर्शी, स्वार्थी और खुशामदियों की तरह ऐसे कार्य कदापि न करें जिनसे कि देशवासियों को हानि पहुँचे, बल्कि दूरदर्शी, परमार्थी, सत्यशील और दृढ़ताप्रिय आत्माओं की भाँति असंख्यों कष्ट

उठाते हुए भी वह करेंगे, जिसमें देश का भला हो, निर्धन धनवान, निर्बल बलवान् और मूर्ख भी बुद्धिमान् हो जायें। प्रत्येक प्रकार के सामाजिक दुःख मिटें और दुर्भिक्ष आदि विपत्तियाँ दूर होकर लाखों बिलबिलाती हुई आत्माओं को सुख पहुँचे। देश-भक्ति द्वारा इतने धर्मों का संपादन होता हुआ देखकर भी यदि कोई धर्म के आगे देश-भक्ति को कुछ नहीं समझता, तो जान लीजिये कि वह यह नहीं जानता कि 'धर्म' क्या वस्तु है ? प्रायः हमारे देश-भाइयों का विचार है कि ईश्वर का भजन और उपासना करनी चाहिए, जिससे परलोक सँभले, और झगड़ों में क्या रखा है ! वास्तव में झगड़ों में कुछ नहीं रखा है, परंतु देश-भक्ति उन झगड़ों में शामिल नहीं है। यह धर्म का एक साधन है, और जैसे कि गृहस्थाश्रम का पालन किए बिना संन्यास ग्रहण करना अधर्म है, उसी प्रकार बिना देश-भक्ति किए मत-मतांतरों में पड़े रहना गलत है।"

महामना मालवीय जी के ये हृदयोद्गार बतलाते हैं कि वे देश-भक्ति को साधारण कर्तव्य ही नहीं वरन् एक परम-धर्म मानते थे, जिसके बिना ठाकुरजी की कोरी भजन-पूजा या एकांत स्थान में बैठकर मंत्र-जाप करना निरर्थक हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म के लिए जीवन अर्पण कर देने वाले मालवीय जी जो बात साठ वर्ष पहले कह चुके हैं, वह आज युग-निर्माण योजना के अंतर्गत कही जा रही है। केवल मंदिर में जाकर भगवान् की मूर्ति के दर्शन कर लेने, उनकी पूजा या स्तुति करने, घर के एक कोने में बैठकर घंटा-दो-घंटा जप या पाठ कर लेने से ही धर्म का साधन नहीं हो सकता। ये सब धर्म की प्रेरणा देने वाली विधियाँ हैं। शास्त्रों में पुकार-पुकार कर कह दिया है—'परोपकाराय सतां विभूतयः'—बिना दूसरों के कष्ट में सहायता पहुँचाये, बिना नीचे गिरे हुओं को ऊपर उठाये धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। मालवीय जी इस तथ्य को बहुत अच्छी तरह समझते थे। इसीलिए जहाँ वे शारीरिक शौच के लिए गंगाजी की मिट्टी लेकर विलायत जाते थे और रेल में यात्रा करते हुए भी ब्रह्म-मुहूर्त में स्नान, ध्यान, तिलक आदि कर लेते थे वहाँ वे देश के प्रत्येक आंदोलन में, प्रत्येक कठिन समस्या के अवसर पर मैदान में आगे बढ़कर महत्त्वपूर्ण कार्य करने से भी कभी पीछे

नहीं हटते थे। उनके इसी गुण को देखकर भारत के प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने लिखा था—

"मालवीय जी में अनेक गुण थे, किंतु उनके जीवन में दो प्रधान धाराएँ थीं। पहली भारतीय सनातन धर्म-परंपरा में उनका गहन विश्वास, और दूसरी उनकी उत्कृष्ट देश-भक्ति। वस्तुतः ये दोनों उनमें मिलकर एक हो गई थीं—धर्म ही उनका देश था और देश ही उनका धर्म। एक से जुदा दूसरे को वे देख नहीं सकते थे। इसलिए अनेक समाज-सुधारकों और देश नेताओं से उनका मत न मिलता था, परंतु इस मतभेद के बावजूद गंगा की निर्मलता को लेकर चलने वाला उनका व्यक्तित्व देश को संकट में देखकर उस पर सर्वस्व निछावर कर देने के लिए आतुर हो उठता था। अपने धर्म विश्वास में निष्ठा रखते हुए भी हृदय के ऐसे कोमल और उदार थे कि किसी को भी दुःख और कष्ट में देख नहीं पाते थे। अस्पृश्यता मानकर भी वे अस्पृश्यों के लिए रोते थे, अपने धर्म में अडिग रहते हुए भी वे दूसरे धर्मावलंबियों का आदर और सम्मान करते थे। उपदेश देने के स्वभाव के बावजूद वह सेवा के लिए कष्ट सहने को आगे आ जाते थे।"

सच्चे महापुरुषों का यही लक्षण होता है कि उनके घर के या उनके दल वाले ही उनका गुणगान नहीं करते वरन् मतभेद रखने वाले, उदासीन और प्रतिपक्षी भी उनकी प्रशंसा करते हैं। कारण यही होता है कि वे जो कुछ करते हैं वह परोपकार की भावना से होता है, उसमें प्यार और निःस्वार्थता का पूरा समावेश होता है। यही कारण है कि यद्यपि कांग्रेस के कर्णधार श्री जवाहरलाल नेहरू का मन मालवीय जी के धार्मिक और राजनैतिक विचारों से बहुत भिन्न था और उन्होंने कभी उनके साथ मिलकर काम नहीं किया, पर जब अवसर आया तो उन्होंने उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा की भावना प्रकट की और उनके चरित्र को अनुकरणीय बतलाया। उन्होंने कहा था—

"हमारे सामने तो कई ऐसी मिसालें हैं जिनसे हम सीख सकते हैं—आजकल के लोग, आजकल के नौजवान बहुत कुछ सीख सकते हैं मालवीय जी के जीवन से। उनके सामने जो लक्ष्य था, जैसे उन्होंने काम किया और सफलता पाई, इन सबसे हम मूर्तियाँ खड़ी करें,

संस्था बनायें, यह तो ठीक है, लेकिन आखिर में सबक सीखें उनकी जिंदगी से, उनके काम से और सीख कर उसी रास्ते पर चलें। आजकल के जमाने में उसको समझकर चलें और आगे बढ़ेंगे तो यही उनका सबसे बड़ा स्मारक हो सकता है। यह अच्छा है कि समय आया उनकी शताब्दी मनाने का, तो पुराने और नये लोग सब फिर सोचें, विचार करें और सीखें कि वे क्या-क्या बातें थीं जिनसे मालवीय जी इतने बड़े पुरुष हुए, कैसे उन्होंने भारत की आजादी के रास्ते में, अपनी संस्कृति का आदर करने के रास्ते में सबको बढ़ाया, और यह कि उनके बतलाये रास्ते पर चल कर हम भारत की सेवा किस तरह करें और आगे बढ़ें ?"

महान् पुरुषों के सम्मान का सच्चा मार्ग यही है कि उनके विचारों को समझा जाय और जितना संभव हो उनके अनुसार कार्य करके दिखाया जाय। केवल उनकी जय-जयकार करना, उनके चित्र और मूर्तियाँ स्थापित कर देना, उनके नाम पर सड़क, पार्क या अन्य कोई स्मारक बना देना, इनका वास्तविक सम्मान करना नहीं माना जा सकता। महान् पुरुष इस हाड़-मांस के सौ-पचास वर्ष स्थिर रहने वाले शरीर को अधिक महत्त्व नहीं देते। वे तो अपने सत्कार्यों और उनसे होने वाले जन-साधारण के हित को ही महत्त्वपूर्ण समझते हैं। उनका यह यश रूपी शरीर सैकड़ों-हजारों वर्षों तक स्थिर रहता है, इसलिए वे लोगों को उसी को अधिक महत्त्व देने तथा उससे प्रेरणा लेकर समाज और व्यक्तियों की सेवा करने का उपदेश देते हैं। पाठकों का कर्तव्य है कि वे जवाहरलाल जी के कथन का मर्म समझें और नेताओं तथा देश-भक्तों का बाह्य सम्मान करके साथ ही उनकी शिक्षाओं को अपने जीवन में क्रियान्वित करके दिखलायें।

परोपकार और उदारता—

मालवीय जी का हृदय बड़ा कोमल और भावनाएँ अत्यंत उदार थीं, इसलिए अनेक बार दोषी व्यक्तियों की भी सहायता करने को उद्यत रहते थे और यदि किसी से त्रुटि हो जाती तो उसे पुनः अवसर देने को शीघ्र ही तैयार हो जाते थे। वे देश भर में सबसे बड़े विश्वविद्यालय के कुलपति (वाइस चांसलर) थे और इस कारण

उनके पास सदैव ही कोई न कोई छात्र किसी न किसी तरह की सहायता के लिए आया ही करते थे। जैसा हम अन्यत्र बतला चुके हैं, उन्होंने अपने कार्यकाल में न जाने कितने विद्यार्थियों की फीस माफ कराके, कितनों को अपने पास से आर्थिक सहायता देकर विद्याभ्यास का अवसर दिया। इसके फलस्वरूप सैकड़ों युवक जीवन में सफलता पाकर सद्मार्ग पर चलने योग्य हो गये। यदि उनकी उस समय सहायता न की गई होती तो वे असफल जीवन ही व्यतीत करते और अनेक कुमार्ग पर चलने वाले भी बन जाते। श्री कृष्णदास नामक सज्जन ने अपना स्वानुभव लिखते हुए मालवीय जी की उदारता का वर्णन इन शब्दों में किया था—

"मैं एम० ए० पास किस प्रकार हुआ ? आज तक सपने में जब उस घटना को देखता हूँ तो चौंक उठता हूँ। अगर मालवीय जी महाराज का विशेष अनुग्रह न होता, यदि उन्हें मेरी सत्यवादिता पर अटूट विश्वास न होता तो मैं अकारण अपमानित होकर उस विश्वविद्यालय से निकाला जाता, जिसका जर्रा-जर्रा मेरे लिए शिवालय था।"

"उन दिनों राजनीतिक संघर्ष की लहर तेजी के साथ बह रही थी। मैं उसमें आपाद-मस्तक डूबा हुआ था। मुझे कक्षा में जाने और पढ़ने-लिखने तक की फुर्सत न थी। अपनी समझ में मैं अपने जीवन का हर क्षण उस संघर्ष से जूझने में व्यतीत कर रहा था। नतीजा यह हुआ कि मेरा नाम कट गया, हाजिरी गायब हो गई। मैं जितने दिन कक्षा में जाकर बैठा, उसका कोई लेखा-जोखा न रहा। परीक्षा में बैठने की मुझे अनुमति मिलेगी या नहीं, यह संदिग्ध हो गया। तत्कालीन रजिस्ट्रार मेरे सख्त विरोधी थे। मगर मेरे प्रोफेसर श्री मुकुटबिहारी लाल ने मेरी सारी बकाया फीस जमा कर दी। वह मेरी 'राजनीतिक कारगुजारियों' से बहुत ज्यादा प्रभावित थे। समस्या हाजिरी की आई। आचार्य गुरुमुखनिहालसिंह घनघोर देशभक्त और विद्यार्थी वात्सल्य के महानुभाव थे। उन्होंने मेरी हाजिरी की समस्या अपनी सिफारिश से हल कर दी। रजिस्ट्रार महोदय अब भी संतुष्ट न थे। मालवीय जी महाराज के सामने मेरा मामला पेश हुआ। उन्हें मेरी सारी राजनीतिक हरकतों का पूरा पता था। उन्होंने कहा—"ऐसे

देश-भक्त नवयुवक को परीक्षा में बैठने का अवसर न देना सर्वथा अनुचित होगा।" मुझे अनुमति मिल गई।

"इसके बाद एक कठिन समस्या और आई। ऐच्छिक विषयों को फार्म में भरते समय मुझसे गलती हो गई और यह उस समय पकड़ी गई जब मैं परीक्षा देने को अपनी सीट पर पहुँच गया। अंत में मेरा मामला मालवीय जी के सामने पेश हुआ। उस समय प्रो—वाइस चांसलर राजा ज्वालाप्रसाद, पंडित बलदेवप्रसाद दुबे, पंडित कन्हैयालाल, बा० शिवप्रसाद गुप्त आदि भी उपस्थित थे। मालवीय जी ने मुझे देखते ही कहा—"मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी।"

"मैंने काँपते स्वर में कहा—"बाबू, आप मुझे बेईमान न समझें। मुझे एम० ए० की डिग्री न मिले न सही। आपकी नजरों से उतर जाना मेरे लिए असह्य होगा। उस समय मेरी आँखों से आँसुओं की अनवरत धारा प्रवाहित हो रही थी। यह देख कर भोले बाबा का आसन डोल गया। उन्होंने अपने सचिव पं० त्रिलोचन पंत को आदेश दिया—'इस लड़के को मेरी गाड़ी में ले जाओ और रसगुल्ला खिला कर वापस ले आओ। उप-कुलपति की कार में अपराधी विद्यार्थी रसगुल्ला खाने को चल पड़ा।"

सारांश यह है कि मालवीय जी ने नवयुवक की नेकनीयती पर विश्वास करके उसे क्षमा ही नहीं कर दिया वरन् एक विषय में फिर से परीक्षा लेने का आदेश देकर उसे सम्मान सहित उत्तीर्ण होने का अवसर भी दिया।

जब श्री कृष्णदास परीक्षोत्तीर्ण होकर विश्वविद्यालय छोड़ने के पहले मालवीय जी के दर्शन करने गये तो उन्होंने कहा—"तुम्हारी शरारतों और बदमाशियों के कारण सभी लोग तुमसे नाराज रहते हैं। मगर मैं जानता हूँ कि तुम आगे चल कर अवश्य कुछ करोगे। अपनी माँ—मातृ-भूमि के ऋण को भूलना मत। उसे तुम जैसे तरुणों से बहुत आशा है।" इसके पश्चात् जब कई बार राजनीतिक आंदोलनों में जेल काट कर सन् १९४४ में वे पुनः मालवीय जी के पास पहुँचे तो मालवीय जी के पुत्र गोविंद जी ने विनोद में कहा—"बाबू ! बदमशवा आ गया। कई वर्ष की सजा काट आया है।" उस समय वे बीमारी और अत्यंत कमजोरी के कारण बिस्तर पर ही पड़े रहते थे, तो भी

उन्होंने श्री कृष्णदास को पास बुलाया और उनके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"गोविंद, देखो मैंने कहा था न कि यह लड़का आगे चल कर कुछ करेगा ? इसने मेरे मुँह की लाली रख ली।"

इसी प्रकार एक अन्य नवयुवक जो विश्वविद्यालय के कार्यालय में नौकर था, कम वेतन में खर्चा न चला सकने के कारण अपने पास जमा होने वाले रुपये में से बीस रुपया महीना गुप्त रूप से निकालने लग गया। जब यह रकम दो हजार रुपया के लगभग हो गई तो भेद खुला। वह चुपचाप अपने घर चला गया और शर्म के मारे उसने विष खाकर आत्महत्या का प्रयत्न किया, पर वमन हो जाने से उसकी जान बच गई। विश्वविद्यालय के अधिकारी पुलिस में रिपोर्ट करके उसे गिरफ्तार कराने की व्यवस्था कर रहे थे, पर उसके एक संबंधी ने मालवीय जी से मोहलत माँग कर उसका पता लगाने की चेष्टा की और अपराधी के मुख से सब कच्चा चिट्ठा सुन कर उसके घरवालों से दो हजार रुपये विश्वविद्यालय को चुका देने को समझाया। विश्वविद्यालय के अधिकारी फिर भी पुलिस को इत्तला देने पर गौर कर रहे थे, पर मालवीय जी ने निर्णय किया, इससे एक युवक का भविष्य नष्ट हो जाएगा, न मालूम वह कौन-सा कुकृत्य कर बैठे। अंत में उसे क्षमा कर दिया गया।

एक बिगड़े हुए काश्मीरी परिवार के गुंडा स्वभाव के छात्र ने एक दिन होस्टल में किसी वेश्या को बुलाकर अपने इष्ट-मित्रों के बीच में नाच कराया। समाचार मिलने पर मालवीय जी भी वहाँ पहुँच गये। कुछ लड़के वहाँ से भागने लगे, पर मालवीय जी ने सबको बैठने को कहा और कहने लगे —"बच्चों ! जिस मार्ग पर तुम चल रहे हो, इसका परिणाम बहुत बुरा है। बड़ी आशा करके तुम्हारे माता-पिता ने तुमको हमारे भरोसे यहाँ अध्ययन करने के लिए भेजा है। युवावस्था में कुसंगत में पड़ कर प्रायः लड़के कुमार्ग में चले जाते हैं, पर जब उसका दोष समझ में आ जाय तो उसे छोड़ देना चाहिये।" मालवीय जी के ऐसे स्नेहपूर्ण भाव से दिये गये उपदेश से वह लड़का संकोच से दब गया, सर नीचा करके इतना ही कह सका—

महाराज, क्षमा कीजिये !" मालवीय जी ने कहा—"शाबाश ! अच्छा हम जाते हैं।"

मालवीय जी वाइस-चांसलर थे। वे उस विद्यार्थी को कैसा भी दंड दे सकते थे, पर उन्होंने पूरी उदारता और प्रेम भावना से काम लिया। परिणाम यह निकला कि उन बिगड़े हुए छात्रों ने बुरे रास्ते को बिल्कुल छोड़ दिया और बाद में वह काश्मीरी लड़का परीक्षोत्तीर्ण होकर कहीं इंजीनियर हो गया।

मालवीय जी की इन्हीं विशेषताओं का नतीजा था कि धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी क्षेत्रों में पचास-साठ वर्ष काम करने के बाद भी उनका कभी किसी से मनोमालिन्य अथवा द्वेष-भाव नहीं हुआ। मतभेद होने से अनेक लोग उनसे पृथक् रहते थे, कभी-कभी उनके किसी काम का विरोध भी करते थे, पर उनकी मधुर वाणी, प्रेम-भावना और उदार-व्यवहार के कारण व्यक्तिगत रूप से उन सबका सम्मान ही करते थे। भारतवासी ही नहीं, श्री सी० एफ० एंडरूज जैसे भारत-भक्त अँग्रेज ने भी उनके संबंध में ऐसी ही सम्मति प्रगट की थी—

"जो लोग उनके निकट संपर्क में आये, उन्होंने उनको अत्यंत सौम्य और आकर्षक ही पाया। कोई भी व्यक्ति, यहाँ तक कि स्वयं महात्मा गांधी भी असंख्य हिंदू जनता के इतने प्रिय नहीं जितने कि मालवीय जी।"

मालवीय जी कितने अधिक लोकप्रिय और जनता के श्रद्धाभाजन थे इसका प्रत्यक्ष उदाहरण १२ नवंबर १९४६ को देखने में आया, जब कि मालवीय जी का देहांत होने पर काशी में उनकी अर्थी का इतना बड़ा जलूस निकला कि जितना उससे पूर्व कभी देखने में न आया। उनके अंतिम दर्शन करने को विद्यालय में ही इतनी अधिक भीड़ टूट पड़ी कि उसकी व्यवस्था कर सकना असंभव हो गया। जिसे देखो वही शोकमग्न दिखाई पड़ता था, हजारों व्यक्ति आँसू बहा कर व्याकुल हो रहे थे।

मालवीय जी का चरित्र हम सबके लिए यह शिक्षा देता है कि सामान्य धार्मिक या सामाजिक मतभेदों पर अधिक जोर देना या उनके कारण अपनी शक्ति और समय को बर्बाद करना बुद्धिमानी का चिह्न नहीं है। इन विषयों में लोगों के विचारों और व्यवहार में भिन्नता होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सब मनुष्य कभी एक

विचार के नहीं हो सकते, पर यदि इस प्रकार के अंतर को महत्त्व देकर हम स्वयं सत्य और न्याय सिद्धांतों की रक्षा करते हुए अपने मार्ग के अनुसार ही लोगों की भलाई के कार्य करते रहें तो हमारा जीवन अवश्य सार्थक हो सकता है। सच्चे काम करने वाले और उदार चरित्र सज्जनों की प्रशंसा अपरिचित और उदासीन व्यक्ति भी करते हैं।

धैर्य और ईश्वर विश्वास—

यद्यपि मालवीय जी का अधिकांश समय हिंदू विश्वविद्यालय के संचालन तथा राजनीतिक कार्यों में लगता रहता था, फिर भी आध्यात्मिक कर्तव्यों का पालन करने में उन्होंने कभी शिथिलता नहीं आने दी। वे हृदय से सच्चे आस्तिक थे और भगवान् की कृपा पर पूरा विश्वास रखते थे, इसके परिणामस्वरूप उनको समय-समय पर ऐसे अनुभव होते रहते थे, जिनको परमात्मा के सिवाय कुछ नहीं कहा जा सकता। हिंदू विश्वविद्यालय का काम बहुत बड़ा था और उसमें चाहे जब लाखों रुपया के खर्च की आवश्यकता पड़ जाती थी, पर उनका कोई काम रुकता न था और समय पर धन कहीं न कहीं से आ ही जाता था। ऐसे अवसर पर मालवीय जी के प्रेमाश्रु आ जाते थे कि भगवान् उनके लिए कितना कष्ट उठाते हैं ?

हिंदू विश्वविद्यालय के भीतर भगवान् विश्वनाथ का एक मंदिर बनाने का निश्चय किया गया था। यह एक बड़ा काम था, क्योंकि मालवीय जी इसे दस-बीस लाख रुपया लगाकर ऐसा दर्शनीय बनाना चाहते थे कि वह विश्वविद्यालय के अनुरूप समझा जाय, पर विश्वविद्यालय की आंतरिक व्यवस्था का भार और व्यय इतना अधिक था कि कार्यारंभ करने पर भी वह कई वर्ष तक ज्यों का त्यों पड़ा रहा। अपनी ७५वीं वर्ष-गाँठ पर आयोजित उत्सव पर उन्होंने इस संबंध में कहा—

"इस मंदिर के लिए क्या कहूँ। यह अब तक क्यों नहीं बना, इसलिए मुझे बड़ा दुःख है। पचास मील पैदल चल कर एक तपस्वी महात्मा आये और इसकी नींव रख गये, तब से यह अभी तक नहीं बन सका, पर इसका सब दोष मुझ पर ही है। आप घबराइये नहीं,

विदेशों में भी बड़े-बड़े भवनों के बनने में यों ही देर होती है। कुकुरमुत्ता तो यों ही उग आता है, पर बड़े वृक्ष के बढ़ने में समय लगता है। मैंने इसके लिए काफी समय नहीं दिया, इसकी मुझे बड़ी शर्म है, पर अभी मेरा दस वर्ष का कार्यक्रम है, आप विश्वास रखें, मैं अभी नहीं मरूँगा (इसके ठीक दस वर्ष बाद ८५ वर्ष की आयु में ही उनका देहांत हुआ)। शरीर छूटने पर भी मैं नहीं मरूँगा, बल्कि हिंदू विश्वविद्यालय में या यहीं कहीं जन्म लेकर हिंदू जाति और देश की सेवा करूँगा।" इस विशाल मंदिर को मालवीय जी अपने सामने ही बहुत कुछ पूरा करा गये और मरते समय सेठ जुगलकिशोर बिड़ला से प्रतिज्ञा करा गये कि वे इसे पूर्ण करा देंगे।

उनका यही धैर्य और भगवान् पर अटल विश्वास उनके बड़े पुत्र श्री रमाकांत मालवीय की मृत्यु के समय देखा गया। वृद्धावस्था में अपने पुत्र का निधन अपनी आँखों से देखना पड़े इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है ? पर विधि का विधान ऐसा ही था। जब मालवीय जी की आयु ८२ वर्ष की थी तो रमाकांत बहुत बीमार हो गये और बड़े-बड़े चिकित्सकों द्वारा इलाज किये जा सकने पर भी उनकी प्राण रक्षा न की जा सकी। एक दिन जब उनकी हालत बहुत बिगड़ गई थी और वे भयंकर कष्ट पा रहे थे तो लोगों ने जाकर मालवीय जी से कहा—"महाराज, रमाकांत जी इस समय घोर कष्ट में हैं। अब कुछ रह नहीं गया है, केवल प्राण अटके हैं। वे आपके आज्ञाकारी पुत्र हैं, बिना आपकी आज्ञा के प्राण नहीं छोड़ेंगे, आप उनका कष्ट से जल्दी उद्धार कीजिये।" मालवीय जी तुरंत लाठी टेकते हुए उनके सामने जाकर खड़े हो गये और कुछ क्षण देखने के पश्चात् कहा—'बेटा ! तुम्हें बड़ा कष्ट हो रहा है, अब तुम जाओ।' रमाकांत जी की आँखें ज्वर की तीव्रता से निकली पड़ती थीं—सदा के लिए बंद हो गयीं।

❑ ❑

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।